RESEARCH HUB – International Multidisciplinary Research Journal (RHIMRJ)
Research Paper
Available online at: www.rhimrj.co.in

''जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त दर्शनावरण''

रामधनी राम

शोधछात्र प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा।

जैन धर्म एक प्रतिक्रियावादी धर्म है, जिसके प्रर्वतक ऋषभदेव आदिनाथ थे, ऋषभदेव एवं अरिष्टनेनी जैन धर्म के महान अनुआयु थे। वेदों पुराणों के अध्याय से ऐसा लगता है कि जैनधम्र वैदिक धर्म से प्राचीन है। आचार्य जिनसेन के सहस्रनाम में तीर्थंकर ऋषभदेव को शिवशंकर प्रजापतिनाभेय आदि अनेकों नामों से स्मरण किया गया है जो इन सभी को एक रूप मानने की कल्पना को जम्न देते है और अगर इसे सही मान ले तो समस्त भारतीय संस्कृति तीर्थंकर ऋषभदेव से ही उद्भूत हुई है।

जैन धर्म तो वस्तु का स्वभाव है उसको बनाय नही जा सकता, उसे उदघटित व प्रचारित ही किया जा सकता है। तीर्थकर भी धर्म को उदघाटित ही करते है। जैनधर्म की उपयोगिता प्रतिपाघ विषय 'पर्यावरण संतुलन में और अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि इस धर्म के द्रव्याकयोग में सृष्टि के निर्माता षट्द्रव्यों जीव, अजीव, धर्म, अधर्म आकाश व काल की तथा करणउयोग में सृष्टि को खगोल भूगोल की सूक्ष्मतम हैं। जैनधर्म के सिद्धान्त में अचार में अहिंसा विचार में अनेकांत वाद, में स्यादवात तथा समाज में अपरिगृह से चार स्तम्भ है, जिनपर जैनधर्म का सर्वोदयी प्रसाद खण्ड है। इस के बाद महावीर ने जैनधर्म के पंचमव्रत सिद्धान्त 'ब्रहचार्य का नाम जोड़ कर पालन करने का विचार किया गया। इस प्रकार निर्लिप्त भाव से इन्द्रिय विषयों में प्रवृत होना (अणुव्रत व उनके अतिचार, सप्तव्यसन त्यागादि में विस्तार से देखेंगे) शनैः–शनैः निवृति की ओर प्रेरित करता है। उसका यह जीवन उसको ही नहीं समाज के भी सुखी करने में सहायक होता है। जैनधर्म श्रमण धर्म की अपेक्षा से निवृति प्रधान । इसमें प्रवृति की जो गुंजाइश है वह इन क्षेत्रों में है। जैसे– भाव से दया पालना, दान देना, व्रतादि करना किसी प्राणी की मन वचन काम से हिंसा न करना परोपकार करना। जैनधर्म में वर्णित निवृति परक धर्म मोक्ष मार्ग में हित रूप है और प्रवृति पूर्ण धर्म (श्रावक धर्म स्वर्णादि सुख का साधक बनता है।

कर्म सिद्धान्त – जैनाचार की मूल भिति है कर्णवाद। इस पर जैन धर्म का अहिंसावाद अपरिगृहवाद अनीश्वरवाद प्रतिष्ठित है। कर्मवाद को जैन दर्शन ने ही नहीं अनेकानेक दर्शनों में स्वीकार किया है जिनमें बौद्ध, न्याय, वैशेसिक, संख्या योग अद्वेत, वैष्णव शामिल हैं जन साधारण अपने नित्यप्रति के जीवन में कर्मफल की बात करते रहते है तथा उसे पुर्न जन्म से भी जोड़ते हैं।

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से जैनदर्शन एक समृद्ध दर्शन हैं। इस दर्शन में कर्म के स्वरूप उसके भेद–प्रभेद कर्म बंधन किया, कार्यफल योग आदि कर्म सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों का विस्तृत व वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। यह इतना तर्क संगत है कि इसको किसी भ प्रकार के तर्क से काटा नहीं जा सकता। पूर्व वैदिक जैन दर्शन के कर्म सिद्धांत का अध्याय करने से प्रतीत होता है कि यह निर्णय लेने व कार्य करने की स्वतंत्रता पर आधारित है पर कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस दर्शन में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त का तार्किक निष्कर्ष नियतिवाद हैं कर्म भोग रहे व्यक्ति को उन कर्मो के प्रभाव से ऊपर उठकर स्वतंत्र निर्णय लेने व कार्य करने की क्षमता प्रदान करता हैं।

कार्मण शरीर :

आन्तरिक सूक्ष्म शरीर, जो कि मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का मूल है, कार्मण शरीर है। यह आठ प्रकार के कर्मों से बनता है।

उपर्युक्त पांच प्रकारों में से हम अपनी इन्द्रियों से केवल औदारिक शरीर का ज्ञान कर सकते हैं। शेष शरीर इतने सूक्ष्म है कि हमारी इन्द्रियाँ उनका ग्रहण नहीं कर सकती। कोई वीतराग केवली हो उनका प्रत्यक्ष कर सकता है। ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। तैजस और कार्मण शरीर का किसी से भी प्रतिघात नहीं होता। वे लोकाकाश में अपनी शक्ति के अनुसार कहीं भी जा सकते हैं। उनके लिए किसी भी प्रकार का बाह्य बन्धन नहीं है। ये दोनों शरीर संसारी आत्मा से अनादिकाल से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक जीव के साथ कम से कम ये दो शरीर तो रहते ही है। जन्मान्तर के समय ये दो शरीर ही होते है। जब जीव के तीन शरीर होते है, तो तैसज, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैकिय, जब चार होते है तो तैजस, कार्मण, औदारिक और वैकिय या तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक समझने चाहिए। पाँच शरीर एक साथ नहीं होते क्योंकि वैक्तिलब्धि और आहारक लब्धि का

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved

उपयोग एक साथ नहीं हो सकता। वैक्ति लब्धि के प्रयोग के समय एवं शरीर बना लेने पर भी नियमतः प्रमत्त दशा होती है किन्तु आहारक शरीर के विषय में यह बात नहीं हैं आहारक लब्धि का प्रयोग तो प्रमत्त दशा में होता है, किन्तु आहारक शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसा होने के कारण अप्रमत्तावस्था रहती हैं अतः एक साथ इन दो शरीरों का रहना सम्भव नहीं। शक्ति रूप से एक साथ पाँचों शरीर रह सकते हैं क्योंकि आहारक एवं वैक्तिलब्धि का साथ रहना सम्भव है किन्तु उनका प्रयोग एक साथ नहीं हो सकता, अतः पाँचों शरीर अभिव्यक्ति रूप से एक साथ नहीं रह सकते।

धर्म का लक्षण बताते हुए राजवातिककार कहते है कि स्वयं किया करनेवाले जीव और पुद्गल की जो सहायता करता है वह धम्र है। यह नित्य है, अवस्थित है और अरूपी है। नित्य का अर्थ है तद्भावाव्यय। गति (क्रिया) में सहायता देने रूप भाव से कभी च्युत नहीं होता ही धर्म का तद्भावाव्यय है। अवस्थित का अर्थ है जितने प्रदेश हैं उतने ही प्रदेशों का हमेशा रहना। धर्म के असंख्यात प्रदेश हैं। ये प्रदेश हमेशा असंख्यात ही रहते हैं। अरूपी का अर्थ पहले बताया जा युका है। स्पर्श, रम, गन्ध और वर्णरहित द्रव्य अरूपी हैं। धर्मास्तिकाय पूरा एक द्रव्य हैं जीवादि की तरह धम्र भिन्न–भिन्न रूप से नहीं रहता अपितु एक अखण्ड द्रव्य के रूप में रहता हैं यह सारे लोक में व्याप्त है। लोक का ऐसा कोई भी भाग नहीं है जहाँ धर्म द्रव्य न हो। जब यह सर्वलोकव्यापी है तब यह स्वतः सिद्ध है कि उसे एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।

गति का अर्थ है एक देश से दूसरे देश में जाने की क्रिया। इसलिए क्रिया गो गति भी कह सकते हैं। धर्म इस प्रकार की क्रिया अथवा गति में सहायक है। जिस प्रकार मछली स्वयं तैरती है किन्तु उसकी यह क्रिया बिना पानी के नहीं हो सकती, पानी के रहते हुए ही वह ताला, कूप या समुद्र में तैर सकती है। पानी सूख जाने पर उसमें तैरने की शक्ति रहते हुए भी वह नहीं तैर सकती। इसका अर्थ यही हे कि पानी तैरने में सहायक है। जिस समय मछली तैरना चाहती है उस समय उसे पानी की सहायता लेनी ही पड़ती हैं, न तैरना चाहे तो पानी उसके साथ बलप्रयोग नहीं करता। बहते हुए पानी का प्रश्न दूसरा है। उसी प्रकार जब जीव या पुद्गल गति करता है तब उसे धर्म द्रव्य की सहायता लेनी पड़ती है।

जैन धर्म अनीश्वरवादी है। यह कर्म ही संसार की सृष्टि करने वाला विधाता है। कर्मफल के वशीभूत ही यह चतुर्गति भ्रमण है। अन्य ईश्वरवादी धर्म भी कर्म व पुनर्जन्म की बात को स्वीकारते है। आत्मा में मन वचन ओर शरीर रूप तीन ऐसी शक्तियाँ है, जिनसे प्रत्येक संसारी प्राणी में प्रति समय एक विशेष प्रकार का प्रकम्पन/परिस्पन्इन होता रहता है। इस परिस्पम्दन के कारण जीव का प्रत्येक प्रदेश सागर में उठनेवाली लहरों की तरह तरंगायित रहता है। जीव के उक्त परिस्पन्दन के निमित्त से कर्म वर्गणाएँ कर्म रूप से परिणत होकर पीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो जाता है, इसे योग कहते है। यह योग हो हमें कर्मों से जोड़ता है, इसलिए योग यह इसकी सार्थक संग है।योग को ही आस्त्रव कहते है। आस्त्रव का शाब्दिक अर्थ है सब ओर से आना, बहना रिसना आदि इस दृष्टि से कर्मों के आगमन को आस्त्रव कहते है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म किसी भिन्न क्षेत्र से आते है, अपितु हम जहाँ है, कर्म वहीं भरे पड़े है। योग का निर्माण पाते ही कर्म वर्गणाएँ कर्म रूप से परिणत हो जाती है। कर्म वर्गणओं का कम्र रूप से परिणत हो जाना ही आस्त्रव कहलाता है।

मन, वचन और काय की प्रवृति शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की होती हैं। शुभ प्रवृति को शुभयोग तथा अशुभ प्रवृति को अशुभयोग कहते है। शुभयोग शुभ आस्त्रव का कारण हैं तथा अशुभ योग से अशुभ कर्मो का आस्त्रव होता है। विश्वक्षेभ की भावना, सबका हित, चिंतन, दया करूण और प्रेम–पूर्वभाव शुभ–मनों योग है। प्रिय सम्भाषण, हितकारी, वचन, कल्याणकारी उपदेश शुभ –वचन–योग के उदाहरण है तथा सेवा, परोपकार, दान एवं देव पूजा आदि शुभ –काय–योग के कार्य है। इन से विपरीत प्रवृतियों अशुभ–योग कहलाती है।

दर्शनावरण कर्म पदार्थ की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का अवभास करना दर्शन हैं दर्शनावरण कर्म उक्त दर्शन गुण की आवृति करता है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वारा बन्द हो जाता है। इसकी तुलना राजा के द्वारपाल से की जा सकती है। द्वारपाल राजा से मिलाने में किसी व्यक्ति को बाधा पहुँचाता है। जिस प्रकार द्वारपाल की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति राजा से नही मिल सकता वैसे ही दर्शनावरण कर्म वस्तुओं के दर्शन को रोकता है। पदार्थों को देखने में अड़चन डालता है। इसकी नौ उत्तर प्रकृतियाँ है।

1. चक्षु–दर्शनावरण 2. अचक्षु–दर्शनावरण 3. अवधि–दर्शनावरण 4. केवल–दर्शनावरण 5. निद्रा 6. निद्म–निद्रा 7. प्रचला 8. प्रचला–प्रचला 9. स्त्यान–गृहि

चक्षु दर्शनावरण– कर्म नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य अवबोध की रोकता है। चक्षु के अलावा शेष इन्द्रियों से होने वाले सामान्य अवबोध को अचक्षु दर्शनावरण कर्म रोकता है। अवधि दर्शनावरण कर्म अवधि–दर्शन को रोकता हैं तथा केवल दर्शनावरण कर्म सर्वद्रव्यों और पर्यायों के युगपत होने वाले सामान्य अवबोध को व्यक्त नहीं होने देता।

आँख के द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म के ग्रहण को चक्षुदर्शन कहते है। इसमें पदार्थों का साधारण आभास मात्र होता है। चक्षुदर्शन को आहत करने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण कहलाते है। आँख को छोड़कर अन्य इन्द्रियों तथा मन से जो पदार्थों का सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षु दर्शन कहते है। इस प्रकार के दर्शन को आवृत करने वाला कभी अचक्षुदर्शनावरण कहलाता है। इन्द्रिया और मन की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए आत्मा द्वारा रूपी पदार्थों का सामान्य शोध होने का नाम अवधिदर्शन हैं

इस प्रकार के दर्शन को आवृत करने वाला कर्म अवधि दर्शनावरण कहलाता है। संसार के अखिल वैकल्पीक पदार्थों का सामान्य बोध केवल दर्शन कहलाता हैं इस प्रकार के दर्शन को आवृत करने वाला कर्म केवल दर्शनावरण के नाम से प्रसिद्ध है। निंद्रा आदि पाँच अवस्थाएँ भी दर्शनावरणीय कर्म का ही कार्य है। जो सोय हुआ प्राणी थोड़ी सी आवाज से जाग जाता है। अर्थात जिसे जगाने में परिश्रम नहीं करना पड़ता उसकी नींद को निंद्रा कहते है। जिस कर्म के उदय से इसप्रकार की नींद आती है उस कर्म का नाम भी निंद्रा है। जो सोया हुआ प्राणी बड़े जोर से चिल्लाने, हाथ से जोर से हिलाने आदि से बड़ी मुश्किल से जागता है। उसकी नींद एवं तत्रिमिन्वक कर्म दोनों को निंद्रा निंद्रा कहते है। खड़े–खड़े या बैठे–बैठे नींद लेने का नाम प्रचला है। उसका हेतुभूत कर्म भी प्रचला कहलाता है। चलते –फिरते नींद लेने का प्रचला–प्रचला है। तत्रिमितभूत कर्म को भी प्रचला–प्रचला कहते है। दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्य विशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करने का नाम स्त्यानदि–स्त्यानगृद्धि है। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है। उनका नाम भी स्त्यानद्धि अथवा स्तयागृद्धि है

दर्शनावरणीय प्राकृति आत्मा के दर्शन अर्यात् सामान्य उपयोगरूप गुण को आच्छादित करती है।

संदर्भ–सूची

1. जैनतत्वविद्या–मुनिश्री प्रमाण सागर जी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 2000
2. जैन धर्म एवं संस्कृति –निर्मला गोदीका
3. समयसार – आचार्य कुन्दकुन्द, अहिंसा मंदिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली–1
4. जैन साहित्य का इतिहास– सिद्धान्ताचार्य पं0 कैलाशचन्द शास्त्री श्री गणेश प्रसाद जैन ग्रथमाला, वाराणसी 2002
5. जैनधर्म – दर्शन– डॉ0 मोहनलाल मेहता।

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved

ISSN: 2349-7637 (Online)